प्राचीन भारत में शिल्प और शिल्पकार

एक सामाजिक, आर्थिक विश्लेषण

नमूना • SAMPLE

नमूना • SAMPLE

प्राचीन भारत में शिल्प और शिल्पकार

एक सामाजिक, आर्थिक विश्लेषण

डॉ. सन्तोष कुमार

नमूना • SAMPLE

अखण्ड पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली (भारत)

द्वारा प्रकाशित

अखण्ड पब्लिशिंग हाउस

एल-9ए, प्रथम तल, गली न. 42,
सादतपुर एक्सटेंसन, दिल्ली-110094 (भारत)
Phone : 9968628081, 9013387535
E-mail : akhandpublishinghouse@gmail.com
akhandpublishing@yahoo.com
Website : www.akhandbooks.in

प्राचीन भारत में शिल्प और शिल्पकार

एक सामाजिक, आर्थिक विश्लेषण

Prachin Bharat main Shilp aur Shilpkaar

Ek Samajik, Aarthik Vishleshan

by Dr. Santosh Kumar

आईएसबीएन : 978-81-19098-90-3
सर्वाधिकार : © डॉ. सन्तोष कुमार
संस्करण : प्रथम, 2025, मार्च 10

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन के किसी भी हिस्से को प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इलेक्ट्रॉनिक या किसी अन्य माध्यम द्वारा पुनः प्राप्ति समेत किसी भी रूप में प्रतिलिपिकृत, अनुवादित, संगृहीत नहीं किया जा सकता है और न ही किसी भी रूप में या किसी भी माध्यम द्वारा इसे प्रसारित किया जा सकता है।

इस पुस्तक में लेखक द्वारा व्यक्त विचार उनके व्यक्तिगत हैं जिसका प्रकाशक से कोई संबंध नहीं है।

भारत में प्रकाशित

झपसू यादव द्वारा 'अखण्ड पब्लिशिंग हाउस' के लिए प्रकाशित। वी.एम. ग्राफिक, दिल्ली द्वारा कवर डिजाइन व शब्द संयोजन तथा आरना इंटरप्राइजेज, दिल्ली से मुद्रित।

SAMPLE COPY

आशीर्वचन

पुस्तक के लेखक डॉ. सन्तोष कुमार द्वारा प्राचीन भारत के सामाजिक इतिहास के एक महत्वपूर्ण पक्ष पर किये गये इस विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिए वह साधुवाद के पात्र हैं, उनका यह कार्य प्राचीन भारत में शिल्प की प्रगति और संलग्न शिल्पकारों की सामाजिक, आर्थिक प्रस्थिति की काल-कमीय व्याख्या की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण अध्ययन के रूप में स्थापित होगा।

एक उत्पादक वर्ग के रूप में समाज की दैनंदिम आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले शिल्पकारों की शास्त्रीय एवं व्यवहारिक प्रस्थिति में होने वाले परिवर्तनों को इंगित करते हुए लेखक ने एक वहु प्रतीक्षित योगदान दिया है।

—प्रोफेसर महेश विक्रम सिंह
'पूर्व' अध्यक्ष, इतिहास विभाग, महात्मा गाँधी
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

नमूना • SAMPLE

नमूना • SAMPLE

प्राक्कथन

प्राचीन भारत में शिल्पकारों की स्थिति एवं स्वरूप में होने वाला विकासात्मक परिवर्तन प्राचीन भारतीय इतिहास का एक अत्यन्त रोचक और महत्वपूर्ण विषय है। यह सर्वथा मान्य है कि प्राचीन काल में भारतीय सभ्यता में शिल्प और कौशल का पर्याप्त विकास हुआ। दैनिक आवश्यकता की छोटी से छोटी वस्तुओं के निर्माण से लेकर श्रृंगार प्रसाधन, मूर्तिकला और स्थापत्य के उदाहरण भारत में उपलब्ध है। सूत, कपास, रेशम और ऊन से बनने वाले परिधान एवं आवरण और बिछौने मिट्टी के बर्तनों के विभिन्न स्वरूप और प्रकार और कालक्रम के साथ उत्तरी कृष्णामार्जित मृद्भाण्ड जैसे-विशिष्ट बर्तनों का निर्माण, धातु शिल्प (लोहा, सोना, चांदी, ताम्र, शीशा, टिन) अस्त्र-शस्त्र कृषि यंत्र एवं उपकरणों का निर्माण और विभिन्न क्षेत्रों और देशों-प्रदेशों से उनका व्यापार प्रस्तर शिल्प, रंगरेजी चर्मकला आदि विभिन्न क्षेत्रों में हुई प्रगति इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन भारत में कारीगरी और कारीगरों की बड़ी भूमिका रही और उनके अनेक प्रकार के समूह और संगठन विकसित होते रहे।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तर्गत प्राचीन भारत में शिल्पों से सम्बन्धित शिल्पकारों के प्रकारों स्वरूप और उनकी सामाजिक, आर्थिक स्थिति-प्रस्थिति में होने वाले परिवर्तनों को कालक्रमानुसार परिलक्षित किया गया है। यह देखने की चेष्टा की गयी है कि प्राचीन काल के विभिन्न चरणों में विभिन्न शिल्पों से जुड़े शिल्पकारों में किसने कब और कितना महत्व प्राप्त किया।

उदाहरणार्थ-यदि वैदिक काल में मिट्टी के बर्तनों मृदभाण्ड निर्माताओं और रथ निर्माताओं का विशेष महत्व दिखाई देता है तो आगे के कालों में क्रमशः धातु निर्माताओं और तन्तुवायों का और फिर हर्षोत्तर काल में प्रस्तर शिल्पियों को विशेष महत्व पाते देखा जा सकता है।

प्रस्तुत विषय के निकट से जुड़े कतिपय अध्ययनों की दृष्टि से प्राचीन भारत में शिल्पकारों का अध्ययन अभी तक एक स्वतंत्र अध्ययन के रूप में लगभग अछूता ही रहा है। 1957ई. में प्रथमतः प्राचीन भारत में शूद्र समुदायों पर अपने शोध के द्वारा रामशरण शर्मा ने शूद्रों में वर्गीकृत शिल्पकार समुदायों को भी संदर्भित करते हुए 'शुद्राज इन एनशियन्ट इंडिया' नाम से अपना ग्रन्थ प्रकाशित किया परन्तु प्राचीन भारत में शिल्पकारों की स्थिति पर किसी स्वतंत्र अध्ययन की दृष्टि से इसे अपर्याप्त ही कहा जायेगा। इसके अतिरिक्त इस अध्ययन की काल सीमा भी गुप्तकाल के साथ समाप्त हो जाती है। पुनः शिल्प और शिल्पकारों के स्वरूप का अध्ययन पी.सी. जैन द्वारा प्रस्तुत "लेबर इन एनशियण्ट इण्डिया" (1971 में प्रकाशित) पुस्तक में मिलता है। परन्तु जहां इस ग्रन्थ की काल सीमा भी वैदिक काल से गुप्त काल की है वही इस अध्ययन में भी भारत के प्राचीन इतिहास काल में शिल्पकारों के स्थिति में होने वाले काल-क्रमिक परिवर्तन को रेखांकित करने और विभिन्न कालखण्डीय परिस्थितियों और कारकों को उससे जोड़कर देखने का प्रयास नहीं किया गया लगता है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भी 'देवराज चनना' द्वारा 1960 में ही प्रकाशित 'स्लेवरी इन एनशियन्ट इण्डिया' में घरेलू एवं कृषि दासों और दासों के अंतर्गत कारीगर सेवकों के अलग-अलग शिल्पों का भी हवाला मिलता है, तथापि इसमें प्रमुखतः घरेलू एवं कृषि दासों पर विचार किया गया है। और दासों की तकनीकी स्थिति की विवेचना की गयी है, वहीं अपने शिल्प के माध्यम से सेवा करने वाले गुप्तोत्तर काल में प्रमुखतः दासों की स्थिति तक पहुंचने वाले शिल्पकारों का अध्ययन लगभग अछूता छोड़ दिया गया है। प्राचीन भारत के सामाजिक इतिहास पर रचे गये। बड़े से बड़े ग्रन्थों में भी शिल्पकार समूहों का अध्ययन बहुत सीमित और दृष्टिहीन प्रतीत होता है और आर्थिक इतिहास के संदर्भ में शिल्पकारों का उल्लेख मात्र एक आर्थिक तत्व के रूप में मिलता है। इस सम्बन्ध में महेश विक्रम सिंह द्वारा इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस के 51वें अधिवेशन (प्रोसिडिंग 1990) में प्रस्तुत एवं प्रकाशित शोध पत्र "सोशल स्टेटस ऑफ आर्टीजन इन अर्ली पीरियड ऑफ इंडियन हिस्ट्री" विशेष उल्लेखनीय है। जिसमें वैदिक काल से लेकर पूर्वमध्यकाल तक शिल्पकारों की सामाजिक प्रस्थिति में होने वाले परिवर्तनों का संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है जो इस विषय में विस्तृत शोध का दिशा निर्देश देता है।

प्राचीन भारत में शिल्पकारों की स्थिति से जुड़े हुए अनेक प्रश्न विवेचनीय है। क्या शिल्पकारों के अधिकांश समूह आर्येतर उत्पत्ति के थे? आर्य और आर्येतर शिल्पकारों की स्थिति में कोई विभेद था? क्या शिल्पकार प्रारम्भ में वैश्य वर्ग में सम्मिलित थे? आर्थिक उन्नति और गतिशीलता के काल में इन उत्पादक वर्गों की कोई विशेष प्रतिष्ठा थी? इनके संगठन किस सीमा तक व्यापारिक संगठनों की तरह व्यवहार करते और प्रतिष्ठा रखते थे? और फिर पूर्वमध्यकाल में इनकी सामाजिक प्रस्थिति के कमजोर पड़ने के क्या कारण हो सकते थे?

प्रस्तुत पुस्तक में हमारी परिकल्पना रही है कि सैन्धव हड़प्पा को नगरीय सभ्यता के पतन के पश्चात् वैदिक कालीन ग्रामीण संस्कृति में शिल्प और कौशल का वह रूप बना नहीं रह सका जो उसके पूर्व की नगरीय सभ्यता में रहा था। भारतीय सभ्यता के विकास की दृष्टि से छठीं शताब्दी ईसा पूर्व का काल अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस समय तक आर्थिक क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन दिखाई देने लगते हैं जिसमें नगरों की प्रगति और उससे जुड़ा शिल्पकार वर्ग (कारीगर) महत्वपूर्ण भूमिका में आता हुआ पता चलता है। वह अपने विभिन्न क्रियाकलापों से राज्य के निर्माण एवं आर्थिक क्रियाकलापों को संचालित करने में समर्थ बनते हैं। मौर्यकाल में आर्थिक संरक्षण मिलने से शिल्पकार वर्ग को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। इसका प्रमुख कारण था कि शिल्पों की उन्नति से राज्य को शुल्क के रूप में अत्यधिक आय प्राप्त होती थी। शुंग, सातवाहनों, भारतीय-यवनों, शकों, कुषाणों, चेरों और चोलों के अल्पशासन काल के बावजूद भी शिल्पकार की स्थिति में क्रमशः उन्नति ही होती रही। मौर्य काल में जहां शिल्पकारों पर राजकीय नियंत्रण था वहीं इस काल में शिल्पकारों को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो चुकी थी। राज्य इनके कार्यों में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता था। इस समय शांति और सुव्यवस्था होने के कारण प्रत्येक कारीगर समूह और उसकी श्रेणी को अपने शिल्प की उन्नति करने का पूर्ण अवसर मिला और यह स्थिति गुप्तकाल में भी बनी प्रतीत होती है। गुप्तोत्तर काल से 12वीं शताब्दी ईसवीं सन् तक में शिल्पकार वर्ग में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ फिर भी उपलब्ध भारतीय धर्मशास्त्रों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि शिल्पकार वर्ग पैतृक रूप से बना रहा और मंथर गति से शिल्पों की प्रगति

होती रही। इस समय तक शिल्पकार वर्ग को विशेष जातियों सामान्यत: मिश्रित हीन जातियों के रूप में परिगणित किये जाने तथा उनकी स्थिति में गिरावट आने से शिल्पकार वर्ग में सामाजिक हीनता का समावेश हुआ। तत्कालीन धर्मशास्त्र और टीकाओं में इसके पर्याप्त संकेत मिलते हैं। क्योंकि हमारी परिकल्पना में वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति में निहित सांस्कृतिक व्यवसायिक (इथ्नो-अकूपेशनल) तथ्यों और कारकों का सम्बन्ध शिल्पकारों के सामाजिक स्थिति से भी था। जिसमें आर्य और आर्येतर तत्वों का भी सम्बन्ध सन्निहित है। प्रारम्भ में शिल्पकार समूह विभिन्न उत्पादक समूहों के रूप में समाज के तीसरे स्तर अर्थात वैश्य वर्ग से सम्बन्धित लगते हैं परन्तु गुप्तोत्तरकाल में वे न केवल चतुर्थ वर्ग में परिगणित होते हैं बल्कि अधिकांश अछूतों की श्रेणी में भी आ जाते हैं जिसके स्वरूप और कारणों को विस्तृत रूप से देखना और समझना इस पुस्तक का आधारभूत उद्देश्य है।

स्रोत की दृष्टि से सभी उपलब्ध प्रमुख धर्मशास्त्रों तथा धर्मसूत्रों, स्मृतियों- मनु याज्ञवल्क्य, नारद, पराशर उशनस, व्यास स्मृति आदि के अतिरिक्त उनकी प्रमुख टीकाओ और भाष्य जैसे- मिताक्षरा वीर मित्रोदय, अपरार्क आदि के अध्ययन के साथ ही प्रमुख प्रबंध ग्रन्थों लक्ष्मीधर का कृतकल्पतरू हेमचन्द्र का परिशिष्टपर्वन आदि। धर्मशास्त्रीय साहित्य के अतिरिक्त व्याकरण और नीति ग्रन्थ अष्टाध्यायी, महाभाष्य, सिद्धान्त कौमुदी, अमर सिंह का अमरकोश, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कामन्दक का नीतिसार आदि इस दृष्टि से महत्वपूर्ण साहित्यिक स्रोत है। वराह मिहिर की वृहत संहिता और सोमदेव का कथासरित्सागर के अतिरिक्त विविध विषयों पर लिखे गये प्रमुख ग्रन्थों का अध्ययन भी अपेक्षित रहा है। भारत के इतिहास काल से जुड़े हुए मूल साहित्यिक स्रोतों के अन्तर्गत विशाल बौद्ध पालि एवं संस्कृत साहित्य और जैन आगमों का अध्ययन विशेष उपयोगी है। अभिलेखीय सामग्री यथा विशेष रूप से श्रेणी संगठनों के अभिलेख और विदेशी यात्रियों के विवरण भी इस अध्ययन में प्रमुख स्रोत बने है। यथासम्भव आवश्यकता अनुसार पुरातात्विक सूचनाओं का भी समावेश तथा साहित्यिक सूचनाओं से उनका समन्वय बैठाने का प्रयास किया गया है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक को कुल आठ अध्यायों में बांटा गया है।

प्रथम अध्याय में "भौगोलिक आर्थिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि" शीर्षक

से विषय की भौगोलिक पृष्ठभूमि तथा सभ्यता की जनपदीय संरचना यथा- ग्राम, नगर और राजधानियों के स्वरूप की विस्तृत चर्चा करता है इसी अध्याय में भारत की प्रधान सामाजिक संस्कृति और शिल्पकार' उपशीर्षक से प्राचीन भारत में मुख्य परम्परा के रूप में स्थापित रही वैदिक ब्राह्मण संस्कृति को संदर्भित करते हुए शिल्पकारों की सामाजिक प्रस्थिति में होने वाले परिवर्तन की विवेचना की गयी है। जो इस सम्बन्ध में हमारी पूर्व परिकल्पना को पुष्ट करती है।

द्वितीय अध्याय में, "सैन्धव सभ्यता एवं शिल्प" शीर्षक से भारतीय उपमहाद्वीप की प्राचीनतम नगरीय सभ्यता में शिल्प-कौशल की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। जिसकी पुरातात्विक सामग्री उस काल की स्थिति का स्वत: प्रमाण प्रस्तुत करती है।

तृतीय अध्याय में "वैदिक सभ्यता एवं शिल्पकार" शीर्षक से वैदिककालीन ग्रामीण जनपदीय संस्कृति में शिल्प और शिल्पकारों को प्रमुखत: यज्ञ, युद्ध और कृषि से सम्बन्धित क्रियाओं से संलग्न देखा गया है। दैनिक उपयोग के पात्रों और सामग्रियों के निर्माण की दृष्टि से मृद्भाण्ड शिल्प और उनसे जुड़े कुलाल या कुम्भकार तथा कुछ अन्य शिल्पियों की पृथक चर्चा की गयी है।

"महाजनपद काल" शीर्षक से चतुर्थ अध्याय के अंतर्गत आधारभूत शिल्प और शिल्पकार नगरीय आवश्यकता और शिल्पकार तथा शिल्पकार संगठन और श्रेणी का विकास उपशीर्षकों के माध्यम से छठी शताब्दी ईसा पूर्व में प्रकट हुए सभ्यता के अगले चरण यथा द्वितीय नगरीयकरण के साथ शिल्प और शिल्पकारों के प्रकारों और स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है नगरीय सभ्यता ने अपनी आवश्यकतानुसार किस प्रकार के शिल्पों और शिल्पकारों को आमंत्रित प्रोत्साहित और संरक्षित किया इसकी विशद विवेचना इस अध्याय में की गयी है। इस काल से ही शिल्पकारों के संगठनों और उनकी सामूहिक गतिविधियों का तेजी से विकास होता दिखाई देता है। जो इस विषय को एक महत्वपूर्ण आयाम प्रदान करता है।

"मौर्यकालीन शिल्प और कौशल और राजकीय नियंत्रण" शीर्षक के माध्यम से पंचम अध्याय में मौर्यकालीन शिल्प, शिल्पकार और उनके श्रेणी संगठनों का विस्तृत परिचय दिया गया है। साथ ही मौर्य साम्राज्य में राजकीय

या केन्द्रीय नियंत्रण के विशेष संदर्भ में शिल्प-कौशल की प्रगति की पृथक विवेचना की गयी है।

षष्ठ अध्याय "मौर्योत्तरकाल में शिल्पों की प्रगति" शीर्षक से मौर्य एवं गुप्त काल के मध्य विभिन्न देशी-विदेशी शक्तियों के राज्यकाल और क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के शिल्पों के विकास की विवेचना करता है। मौर्योत्तर काल में विशेष रूप से विकसित होते धातु शिल्प और वस्त्र निर्माण को पृथक-पृथक विस्तार से देखा गया है इसके अतिरिक्त अन्य शिल्पों और शिल्पकारों की स्थितियों की भी चर्चा की गयी है। मौर्योत्तरकालीन आर्थिक प्रवृत्तियों में शिल्प और व्यापार के क्षेत्र में आर्थिक संगठनों के निर्माण में हुई प्रगति और उन्हें मिलने वाली स्वतंत्रता और उनकी स्वायत्तता पर पृथक रूप से प्रकाश डाला गया है।

सप्तम अध्याय "गुप्तकाल में शिल्पकारिता" शीर्षक से महान गुप्त साम्राज्य में वस्त्र उद्योग, धातु शिल्प, रत्न एवं आभूषण तथा अन्य प्रचलित शिल्प एवं कलाओं का परिचय देता है। श्रेणी संगठन की दृष्टि से यह काल अपना विशेष स्थान रखता है जहां श्रेणी संगठनों के कार्य-व्यवहार और उनके नियमों और उपबन्धों पर विशेष ध्यान दिया जाता प्रतीत होता है।

अन्तिम अध्याय के रूप में अष्टम अध्याय में "गुप्तोत्तरकाल में शिल्पकार" शीर्षक से प्राचीन भारतीय इतिहास के परवर्तीकाल में शिल्पियों की स्थिति में होने वाले परिवर्तन पर विशेष ध्यान दिलाया गया है। इस काल में जहां मूर्ति शिल्प और मंदिर स्थापत्य को विशेष प्रतिष्ठा मिलती दिखाई देती है वहीं अधिकांशतः शिल्प और शिल्पकार मिश्रित जातियों के रूप में इंगित किये जाते लगते हैं। तद्नुसार इस अध्याय में मूर्तिकार एवं स्थपति श्रेणिया अथवा जाति, सामन्तीय युग में विभिन्न शिल्पकारों की प्रशासनिक, आर्थिक, सामाजिक प्रस्थिति पर पृथक-पृथक विचार किया गया है।

अन्त में प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पूर्ण अध्ययन को उपसंहार के रूप में रखते हुए हमारी परिकल्पनाओं को तथ्यों के धरातल पर समझने की चेष्टा की गयी है।

आभार

मुझे यह ग्रन्थ लिखते समय प्रबन्ध की दृष्टि से आवश्यक सामग्री निम्न ग्रंथालयों से उपलब्ध हुई। डॉ. भगवानदास स्वाध्याय पीठ, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, केन्द्रीय पुस्तकालय बी.एच.यू., वाराणसी, माँ शारदा देवी पुस्तकालय रामकृष्ण मठ, लखनऊ, पं. दीनदयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय गोरखपुर, केन्द्रीय पुस्तकालय, मध्यप्रदेश, केन्द्रीय पुस्तकालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, केन्द्रीय पुस्तकालय, सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, केन्द्रीय पुस्तकालय, तिब्बती संस्थान, केन्द्रीय पुस्तकालय के विभागीय अधिकारियों एवं कर्मचारियों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने महत्वपूर्ण शोध सामग्री उपलब्ध कराने में अपूर्व सहायता की। साथ ही मैं उन सभी विद्वान लेखकों का भी ऋणी हूँ जिनकी कृतियों का इस पुस्तक में किसी न किसी रूप में सहयोग मिला है।

मैं अपने परम आदरणीय एवं अनुकरणीय शोध निर्देशक डॉ. जनार्दन सिंह, पूर्व आचार्य कालिकाधाम स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सेवापुरी, वाराणसी, का विशेष रूप से अनुग्रहीत हूँ जिन्होंने हर समय स्नेह और विद्वता से मेरा मार्गदर्शन किया है। इनकी सहायता की अनुपस्थिति में इस शोध प्रबन्ध का प्रकाश में आ पाना असम्भव था। उनकी प्रेरणा के लिए मैं हृदय से आभारी हूँ तथा उनकी इस कृतज्ञता को शब्दों में व्यक्त करना सम्भव नहीं है।

मैं अपने श्रद्धेय गुरुजी प्रो. महेश विक्रम सिंह, पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, के प्रति कृतज्ञता स्वरूप नतमस्तक हूँ समय-समय पर जिनके आशीर्वाद ने मेरे शोध कार्य की सार्थकता को बढ़ाया है।

इस अवसर पर मैं प्रो. उमारानी त्रिपाठी, मानविकी संकायाध्यक्ष, का भी मैं आभार प्रकट करना चाहता हूँ जिनका आशीर्वाद मेरे साथ रहा है। इस अध्ययन के लिए मैं डॉ. उमेश सिंह, प्राचार्य का आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने अपने मधुर व्यवहार एवं विद्वता से, पूर्ण मार्गदर्शन से मुझे लाभान्वित किया है। मैं प्रो. राघवेन्द्र पांथरी जी तथा डॉ. नीता चौबे जी, प्राचार्या, देवा महाविद्यालय, लमही, वाराणसी, के सस्नेह मार्गदर्शन तथा प्रोत्साहन के लिए अत्यन्त आभारी हूँ जिनके बहुमूल्य सुझावों एवं सहयोग के लिए मैं कृतज्ञ हूँ।

प्रस्तुत अध्ययन के संदर्भ में मैं अपने परम सम्मानित पूजनीय माता-पिता को नमन करता हूँ जिनकी प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं स्नेह के लिए आभारी हूँ जिनका प्यार भरा आशीर्वाद इस कार्य को करने में निरन्तर प्रेरित करता रहा। इस प्रयास में मैं अपने भैया-भाभी के बहुमूल्य योगदान का हृदय से आभार प्रकट करते हुए नमन करता हूँ इस कार्य के विशेष समय एवं सहयोग के लिए धर्म पत्नी श्रीमती अनीता एवं सुपुत्र अभिनव का आभारी हूं।

मैं अपने प्रिय सहपाठी डॉ. सर्वेश कुमार मिश्रा जी एवं राकेश भारद्वाज जी का हृदय से आभार प्रकट करता हूँ जिन लोगों ने मेरी अनेक कठिनाइयों को सुलझाने में मदद की और हमेशा मुझे प्रोत्साहित किया। मैं अपने सभी मित्रों, सुहृद्जनों का आभारी हूँ मित्रतापूर्ण सुझावों से अवगत कराते हुए इस कार्य को पूर्णता की ओर ले जाने में मेरी सहायता की। अतः सभी का प्यार एवं आशीर्वाद इस कार्य को पूरा करने में सहयोगी रहा है।

—डॉ. सन्तोष कुमार

विषय-सूची

	आशीर्वचन	*5*
	प्राक्कथन	*7*
	आभार	*13*
1.	भौगोलिक, आर्थिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि	17
2.	सैन्धव सभ्यता एवं शिल्प	60
3.	वैदिक सभ्यता एवं शिल्पकार	67
4.	महाजनपद काल	81
5.	मौर्यकालीन शिल्प और कौशल और राजकीय नियंत्रण	100
6.	मौर्योत्तर काल में शिल्पों की प्रगति और शिल्पकार	118
7.	गुप्तकाल में शिल्पकारिता	138
8.	गुप्तोत्तर काल में शिल्पकार	159
	उपसंहार	*181*
	संदर्भ ग्रंथ सूची	*186*
	सांकेतिक सूची	*199*

नमूना • SAMPLE

नमूना • SAMPLE

1

भौगोलिक, आर्थिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि

(अ) भारत का भौगोलिक परिदृश्य और शिल्पों के विकास की पृष्ठभूमि

(ब) ग्राम, नगर, राजधानियां

(स) भारत की प्रधान सामाजिक संस्कृति और शिल्पकार

आधुनिक भारतीय गणतंत्र की निर्धारित सीमाओं से इतर भारत को भौगोलिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से एक दक्षिण एशियायी उपमहाद्वीप के रूप में ही देखा जा रहा है जिसके अर्न्तगत उत्तर-पश्चिम में अफगानिस्तान और ईरान की सीमाओं से बँधे हुए उत्तर में हिमालय की सम्पूर्ण पर्वत श्रृंखला, और उसके नीचे का सम्पूर्ण मैदानी क्षेत्र और फिर इस उपमहाद्वीप के कटि के रूप में स्थित विन्धय पर्वत श्रृंखला और उसके नीचे का पूर्व-पश्चिम और दक्षिण में समुद्र से बँधा हुआ प्रायः द्वीपीय क्षेत्र सम्मिलित है।

भौगोलिक संरचना की दृष्टि से हिम पर्वत श्रृंखला से निकलने और पश्चिमी समुद्र अर्थात अरबसागर की ओर जाने वाली पश्चिमोत्तर में सिन्धु और उसकी सहायक नदियों (झेलम, चिनाव, रावी, व्यास, सतलज, जास्कर, गोमल, द्रास, श्योक, शिगार, कुर्रम, कावुल तथा गिलगिट) का जाल तथा मध्य उत्तरीय और पूर्वी विशाल मैदान में प्रधानतः गंगा-यमुना और उनकी अनेक सहायक नदियों (गण्डक, घाघरा, सोन, रामगंगा, वागमती, कोसी, गोमती,

टोंस, गिरि, आसन, बेटवा, केन, चम्बल, काली सिन्ध) से सिंचित क्षेत्र है।

सुदूर उत्तर पूर्व की ओर, ब्रह्मपुत्र की बड़ी जलधारा है जो सभी पूर्वी नदियों के अनुरूप ही पूर्वी समुद्र अर्थात् बंगाल की खाड़ी में अपना जल विसर्जित करती है।

भारत के कटि प्रदेश मे मध्य पूर्व से निकलकर पश्चिम की ओर बहने वाली नर्मदा और पूर्व की दिशा लेने वाली महानदी और उनकी अनेक छोटी-छोटी सहायक नदियां (तवा, बरनेर, बैइयार दूधी, शक्कर, हिरन, कोनार, शिवनाथ, हसदेव, डूव जोक व टेल सहायक नदी) इस पर्वतीय क्षेत्र के बीच अनेक छोटी-छोटी घाटी भू-भागो का निर्माण करती चलती है।

प्रायः द्वीपीय भारत में पश्चिमी समुद्र से संलग्न मालावार और कोंकण की ओर से पूर्व की दिशा पकड़ती हुई कुछ बड़ी जल धारायें, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी है जिनसे अनेक छोटी-छोटी पहाड़ी नदियों या नालों का सम्मिलन होता चलता है।

प्रायः द्वीपीय भारत के पूर्वीतट से संलग्न कोरोमण्डल पर्वत समूह तथा दक्षिण में नील गिरि के पर्वत भारतीय प्रायः द्वीप को विशेष संरचना प्रदान करते है इन्ही के मध्य उत्तरीय भू-भाग दक्कन के पठार के रूप में स्थित है जबकि दक्षिण में कुछ मैदानी घाटिया कतिपय उर्वर क्षेत्रो का निर्माण करती है।

भौगोलिक रूप से सम्पूर्ण भारतीय उप-महाद्वीप में कृषि के लिए उपयोगी लगभग 1895309 वर्ग किलोमीटर मैदानी क्षेत्र उपलब्ध है जिसमे 1,12000 वर्ग किलोमीटर उत्तर-पश्चिम 361100 वर्ग किलोमीटर मध्यगंगा मैदान 4,30,000 वर्ग किलोमीटर पूर्वी भारत 170,900 वर्ग किलोमीटर मध्यभारत 266000 वर्ग किलोमीटर दक्षिण भारत में कृषि उपयोगी भूमि उपलब्ध है।

जलवायुगत दृष्टि से भारत में छः ऋतुएं (ग्रीष्मऋतु, शीतऋतु, वर्षाऋतु, वसन्तऋतु, शरदऋतु, और शिशिर) होती है और वर्तमान में यहाँ ग्रीष्म काल में उत्तरीय भारत में 430 औसत से 360 औसत दक्षिण भारत में 320 औसत से 260 औसत अधिकतम एवं न्यूनतम तापमान क्रमशः रहता है जबकी शीतकाल में उसी प्रकार उत्तरीय एवं दक्षिणी भारत में अधिकतम एवं न्यूनतम तापमान होता है।

वर्तमान में भारत में क्षेत्रनुसार औसत वर्षा 112-125 सेंटीमीटर होती है

जबकि भूगोल विद्ों का अनुमान है कि प्राचीन काल में ज्यो-ज्यो हम पश्चिम से पूरब की ओर बढ़ते है त्यो-त्यो पाते है कि वार्षिक वृष्टिमान क्रमशः 25 सेंटीमीटर से बढ़ते-बढ़ते 250 सेंटीमीटर तक पहुँच जाता है 25 से 37 सेंटीमीटर वर्षा द्वारा पोषित सिन्धु प्रेदश के पेड़-पौधों को और सम्भवतः 37 से 60 सेंटीमीटर वर्षा द्वारा पोषित पश्चिमी गंगा घाटी के पेड़-पौधों को भी पत्थर और ताँबे के औजारों से काटकर जमीन को कृषि योग्य बनाना सम्भव था परन्तु 60 से 125 सेंटमीटर वर्षा द्वारा पोषित मध्य गंगा घाटी के जंगलो के बारे में ऐसा सम्भव नही था और 125 से 250 सेंटीमीटर वर्षा से पोषित ब्रहमपुत्रा घाटी[1] में वर्षा औसत अनुपात होती है, जो सम्पूर्ण देश में अनेकानेक कुण्डों तालाबों का स्रोत है साथ ही भूमिगत जल धाराओं का भी विशाल जाल उपलब्ध है।

खाद्यान्नों की दृष्टि से प्राचीन काल में प्रमुखतः गेहूँ, जौ, धान, मसूर, उदड़, मटर, मूँग की खेती करते थे इसके अतिरिक्त वनों और मानव निर्मित बागानों से अनेक प्रकार अन्न खाद्यान्न उपयोगी फल आदि भी प्राप्त होते थें पर्वत एवं संलग्न मैदान घनें वनों से भी आच्छादित रहे जहाँ से सभ्यता के लिए उपयोगी अनेक वस्तुएं लकड़ी वन्य जीव और उनसे प्राप्त होने वाली सामग्री विशेष महत्व रखती रही, इसमें हाथी दाँत, मृगखाल चमड़ा, सींग खाल, लोम, पंजे, खुर, चर्बी, खोपड़ी है।

प्राचीन भारतीय उपमहाद्वीप में पशुओं का कई दृष्टियों से महत्व था गाय, भैस, भेड़, बकरी, दूध, मांस, खाल, तथा उनके लिए बैल, अश्व, गधे, खच्चर, एवं ऊँट भारवाही पशु थे और गाड़ी/रथ भी खीचते थे हाथी, घोड़े, युद्ध तथा सवारी के काम आते थे हड़प्पाई लोग हाथी गैडा भी पालते थे कुत्ते का प्रयोग सुरक्षा और शिकार के लिए किया जाता था। हड़प्पा से प्राप्त एक मूर्ति में एक कुत्ता अपने मुँह में खरगोश दबाये दर्शाया गया है[2] घोड़े के अस्तित्व का संकेत जोदड़ो की एक ऊपरी सतह से तथा लोथल में मिली एक संदिग्ध मूर्तिका टेराकोटा से मिला है। गुजरात के पश्चिम में अवस्थित सुरकोटडा में घोड़े के अवशेषों के मिलने की रिपोर्ट आयी है और 2000 ईशापूर्व के आस-पास के बताये गये है परन्तु पहचान संदेह ग्रस्थ है यद्यपि सिन्धु नदी की घाटी तथा गंधार प्रदेश बहुत प्राचीन काल से ही उत्तम घोड़े के लिए प्रसिद्ध रहे है।[3] आर॰ एस॰ शर्मा का कथन है कि हड़प्पाई सभ्यता

अश्व केन्द्रित नही थी हड़प्पा संस्कृति के आरम्भिक और परिपक्व अवस्था में न तो घोड़े हड्डिया और न ही उसके प्ररूप मिले है।[4]

भारतीय उपमहाद्वीप खनिजों की दृष्टि से भी पर्याप्त सम्पन्न रहा जिसमें विशेष रूप से ताँबा, लोहा, चाँदी, सोना मिलता था कटिपय उपयोगी धातुएँ भारतीय उपमहाद्वीप से सभी पवर्ती क्षेत्रों से भी प्राप्त की जाती रही, उदाहराणार्थ-अफगानिस्तान से प्राप्त टिन जो काँसे के निर्माण के लिए आती थी उससे बहुत सारे औजार एवं उपकरणों का प्रयोग करते थे। काँसा, ताँबे, में टिन मिलाकर धातु शिल्पियों द्वारा बनाया जाता था। पर दोनों में एक भी धातु हड़पाई लोगों को आसानी से उपलब्ध नही थी अयस्को ताम्र-खनिजो की अशुद्वियों से लगता है कि ताँबा राजस्थान के खेत्री ताम्र खानों से मंगाया जा सकता था हालाकि बलूचिस्तान से प्राप्त होता था टिन जो अफगानिस्तान से कठिनाई के साथ मंगाया जाता था टिन की कुछ पुरानी खादानों हजारी बाग और बस्तर में पायी गयी है। हड़प्पाई स्थानों में जो काँसे के औजार और हथियार मिले है उनमें टिन की मात्रा कम है फिर भी जो काँसे की वस्तुएं मिली है इस वस्तुओं से संकेत मिलता है कि सैन्धव सभ्यता में समाज के शिल्पियों में कसेरों कास्य शिल्पियों के समुदाय महत्वपूर्ण स्थान था वे प्रतिमाओं और बर्तनो के साथ-साथ कुल्हाड़ी, आरी, छुरा और वरछा जैसे कई तरह के औजार व हथियार भी बनाते थे स्वर्णकार सोना, चाँदी और रत्नों के आभूषण बनाते थे सोना, चाँदी सम्भवतः अफगानिस्तान से और रत्न दक्षिण भारत से आते थे।[5]

भारतीय उपमहाद्वीप में शिल्प और कौशल के विकास के लिए उपलब्ध कच्चेंमाल या स्रोतो पर क्षेत्रवार दृष्टि दौड़ाने से प्रकट होता है कि जहाँ हिम पर्वत श्रृंखला से जुड़े हुए हो थो वन, लकड़ी और विभिन्न प्रकार की वनस्पतियों और औषधियों की प्राप्ति के बड़े स्रोत थे वही इससे जुड़े कतिपय ढलानयुक्त घाटी क्षेत्र अपने हरी-भरी घासों के कारण पशुचारण के लिए अत्यन्त उपयुक्त स्थल थे फलस्वरूप गाय और भैस जैसी पशुओं के साथ ही भेड़ बकरी पासन, और उनसे प्राप्त होने वाली साम्रगियों विशेषरूप से उनकी उपलब्धता के लिए प्रसिद्ध रहे जो यहाँ प्रभावी होने वाली शीतऋतु के लिए ऊनी वस्त्रों, दुक्कुल या कम्बल आदि के निर्माण का हेतु बने।

काष्ठ उद्योग के विकास के लिए भी इस क्षेत्र का विशेष महत्व रहा

वही दूसरी ओर मध्य भारत और दक्षिण खनिज प्रधान क्षेत्र होने के कारण विभिन्न प्रकार के धातु-शिल्पों के लिए प्रसिद्ध हुआ विध्य और दक्षिण भारत में प्राप्त होने वाली पत्थर की चट्टानें गृह निर्माण, तथा मूर्ति शिल्प के लिए विशेष उपयोगी रही।

प्रायः द्वीपीय समुद्र तटीय क्षेत्र से प्राप्त होने वाले मोतियों, अनेको सीपियों आदि के लिए सर्वज्ञात थे पूर्वी एवं दक्षिण भारत में बहुतायत से उपलब्ध हाथी दाँत और उससे निर्मित होने वाली असंस्करण सामग्री के निर्माण के बड़े केन्द्र थे।

भारत का पश्चिमी क्षेत्र जहाँ कपास के उत्पादन का चीन के साथ सम्पर्क बड़ा केन्द्र था वही पूर्वी और दक्षिणी भारत में रेशम के साथ शिल्क के उत्पादन की विधायें भी विकसित हुई। ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय उपमहाद्वीप में सभ्यता की पूर्व स्थितियों का प्रगतिकरण मध्य भारत में पाषाणीय काल के आदिम जातियों से हुआ लगता है यद्यपि इस काल के मानवों का जीवन अधिकांशतः शिकार पर ही निर्भर करते थे उन्होनें थोड़ा बहुत कृषि करना भी सीख लिया था अपने अस्तित्व के अन्तिम चरण तक वे बर्तनों का निर्माण करना भी सीख गये थे।

सोनघाटी व शिवालिक पर्वत श्रृंखलाओं को मानव ने स्थायी रूप से निवास स्थल के रूप में अपनाया[6] प्रकृति प्रदत्त हथियारों व औजारों का प्रयोग मानव ने प्रारम्भ कर दिया।[7] मानव की इस बदली हुयी परिस्थितियों में सामूहिकता का भी समावेश हो चला था वह सामूहिक रूप से रहकर उद्यम करने लगा।[8] कृषि कर्म एवं पशुपालन प्रारम्भ हुआ।[9] मानव ने पाषाण के साथ-साथ धातु व काष्ठ प्रयोग प्रारम्भ किया यंत्रों व शास्त्रों के आकार एवं स्वरूप सुविधा जनक हो गये।[10] एडवार्ड क्रुज का विचार है कि पाषाणकाल में यह आभास हो चला था कि संगठित जीवन, परस्पर सहकारिता व श्रम विभाजन जैसी प्रक्रियायें सामाजिक व आर्थिक जीवन की आवश्यकता हो गयी है।[11] 'राम नरेश त्रिपाठी' लिखते है कि उत्तर पाषाण काल में लोगो की कार्य-प्रणाली केवल अपने तक ही सीमित नहीं रही अपितु आवश्यकता की पूर्ति का सामूहिक प्रायास होने लगा था।[12] 'हेडिक विलेम' लिखते है कि उत्तर पाषाणकाल मे सर्व प्रथम घुमन्तु जीवन को त्यागकर एक स्थान विशेष पर बसना प्रारम्भ किया।[13] आ॰सी॰ मजुमदार के अनुसार जीवन के

प्रत्येक खण्ड में सहकारिता ने महत्वपूर्ण योगदान दिया तथा वर्तमान सभ्यता के निर्माण तक इसका महत्व सदैव ही बना रहा।[14]

परन्तु स्थिर सभ्यता के निर्माण की पूर्व स्थिति पश्चिमोत्तर में सिन्धु के और उसकी सहायक नदियों के आस-पास तथा दक्षिणी अफगानिस्तान की ओर ही बनी लगती हैं जिसका सम्बन्ध नव पाषाणिक युग और फिर कृषक बस्तियों के उद्‌भव से है निःसन्देह इसी आधार पर वहाँ सैन्धव हड़प्पा की महान नगरीय संस्कृति का भी उद्‌भव हुआ जिसे हम आद्य इतिहास की श्रेणी में रखते है।

सैन्धव हड़प्पा सभ्यता और वैदिक सभ्यता के भारतीय उप-महाद्वीप में अनेक ताम्र-पाषाणीय या ताम्र उष्मीय संस्कृतियों और उनकी बस्तियों के भी दर्शन होते है जिनमें दक्षिण पूर्वी राजस्थान अहार एवं गिलुण्ड पश्चिमी मध्यप्रदेश मालवा, कैथा एवं एरण पश्चिमी महाराष्ट्र में अहमद नगर के जोर्वे, नेवादा, दामावाद, चन्दौली, सोनगाँव, ये सभी स्थल उल्लेखनीय है।

जबकि वैदिक सभ्यता के अन्तर्गत विकसित हुए द्वितीय नगरीयकरण का केन्द्र गंगा का मैदान और पूर्वी भारत बना जिसमें बुद्ध का काल आते-आते उनके बड़े महाजनपदों का निर्माण हो गया मगध के नेतृत्व में अन्ततः मौर्यो के काल के लगभग सम्पूर्ण भारतीय उप-महाद्वीप सभ्यतागत दृष्टि से पर्याप्त विकसित हो गया लगता है जिसका बड़ा प्रमाण चित्रित मृद्‌भाण्डो के लगभग समस्त भारत में उपस्थिति से मिलता है क्रमशः भारतीय यवनों, शको, कुषाणों, सातवाहनों और वाकाटकों और गुप्तों के काल में भारत की सभ्यता स्थिति में और भी प्रखररूप प्राप्त हुआ पता चलता है।

जनसंख्या दृष्टि से इतिहासकारों का अनुमान है कि 1930 से अब तक भारत की तिगुनी वर्तमान पाकिस्तान और बाग्लांदेश को जोड़े तो पाँचगुनी वृद्धि हुई है विगतशताब्दी के समाप्त होते होते 1930 की 35 करोड़ की आबादी लगभग 100 करोड़ हो चुकी थी प्रो. 'महेश विक्रम' कथन है कि इस तीव्र वृद्धि के लिए स्वतंत्र भारत में उधमों के नये अवसर एवं मृत्युदर में कमी जैसी बातें सुझायी गयी है जबकि पीछे औपनिवेशिक काल की शोषणवादी स्थितियों के चलते जनसंख्या की वृद्धि दर कम ही रही मानी गयी है।[15] पिछली शताब्दी में जनसंख्या वृद्धि की निम्न दर के लिए चाहे जो भी कारण उत्तरदायी माने जाये जैसे महामारी, प्राकृतिक आपदा निम्न आयु

औसत, उच्च मृत्यूदर और युद्ध इस सच्चाई से इनकार नहीं किया जा सकता कि पिछली अनेक शताब्दियों से जनसंख्या लगातार बढ़ी ही है, कभी किसी कालखण्ड में तेजी से तो कभी धीमी गति से।[16] प्रसिद्ध इतिहासकार "मोर लैण्ड" ने अनुमान लगाया है कि बादशाह के काल अर्थात् 1556 ई0 से 1606 ई0 के बीच भारत की जनसंख्या 10 करोड़ के लगभग रही। यदि इस हिसाब से हम पीछे चले तो 10वीं 11वीं शताब्दी मे तुर्की के आक्रमण के समय इस देश की कुल आबादी 10-12 करोड़ से ज्यादा नहीं रही होगी।[17] इस भू-भाग मे ज्ञात प्राचीनतम सभ्यता सैन्धव सभ्यता के दो बड़े नगरों-मोहन जोदड़ो और हड़प्पा के उत्कृष्टतम काल की आबादी के बारे में एक प्रसिद्ध विद्वान फेयर सर्विस का अनुमान है कि उनमें क्रमशः लगभग 41 हजार और साढ़े तेईस हजार लोग रहते होगे।[18] और इस अनुमान के आधार पर सभी हड़प्पाई नगरों और तत्कालीन संस्कृति समूहों की कुल आबादी 10 लाख से अधिक होनी मुश्किल है। यह कल्पना की जा सकती है कि भारतीय या वैदिक आर्यो के साथ आगे के काल में यह अधिक से अधिक 1 करोड़ या उसके आप-पास पहुँची हो फिर भी किसी भी स्थिति में बुद्ध के काल यानी छठीशताब्दी ईशापूर्व या आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व सम्पूर्ण भारत की आबादी 5 करोड़ से अधिक सम्भव नही लगती। 'रीज डेविड्स' ने बुद्ध के काल में उत्तरी भारत की जनसंख्या 1.5 से 2 करोड़ के बीच अनुमानित की है चौथीशताब्दी ईशापूर्व में सम्पूर्ण भारत में अनुमानतः 5 करोड के लगभग मानी है 'प्रो0 महेश विक्रम सिंह के अनुसार आधार पर एक अत्यन्त लचीले अनुमान के अनुसार भारत की प्राचीन इतिहास काल में जिसमें वैदिक काल से लेकर हर्ष के काल अर्थात् सातवीं सदी तक के काल आसानी से रखा जा सकता है सभ्यता और संस्कृति के मुख्य या केन्द्रीय क्षेत्र यथा गंगा-यमुना के दोआवी क्षेत्र की आबादी एक से पॉच करोड़ रही मानी जा सकती है।[19]

सभ्यता और संस्कृति के विकास की गति और उन प्रक्रियाओं और प्रवृत्तियों को समझने के लिए जनसंख्या के परिणाम और स्वरूप की जानकारी आवश्यक है जिन्होने भारतीय इतिहास के विभिन्न युग चक्रो का निर्माण किया किसी कालखण्ड में लोगो की न्यूनतम खाद्य आवश्यकता क्या रही होगी? कैसी तकनीकी का प्रयोग किया गया? उत्पादन और उपयोग के असंतुलन की स्थितियों में किस प्रकार की उत्पादक इकाइयों या समूहों के विकास या संरक्षण की अपेक्षा होगी? कैसी तकनीकी का प्रयोग किया गया? उत्पादन

और उपयोग के असंतुलन की स्थिति में किस प्रकार के सामाजिक, आर्थिक और प्रशासनिक नियंत्रण या नियम की सम्भावना बनी? और इसके साथ ही असंतुष्ट अथवा असहाय समूहों की प्रतिक्रिया, उसकी अभिव्यक्ति और नेतृत्व की सफलता-असफलता किसी संशोधन, सुधार या क्रान्ति का प्रभावी या अप्रभावी होना तथा वाहय आक्रमणों का प्रतिरोध जैसे बहुत से प्रश्न किसी काल और क्षेत्र विशेष में जनसंख्या के घनत्व और उसमें सम्मिलित समूहों के स्तर और स्वयं उनकी सापेक्षिक जनसंख्या से घनिष्ठ रूप से जुड़े है। भारतीय उपमहाद्वीप के नृशास्त्रीय अध्ययनों के अनुसार यहाँ प्रगैतिहासिक काल से आद्य आस्ट्रोसायड, मंगोलाभ, तथा कटिपय नीग्रोवोलायड जन समुदायों की उपस्थिति का पता चलता है जिसके साथ कालान्तर में भूमध्य सागरीय और नार्डिक जातियों के भी समावेश की सूचना मिलती है सैन्धव हडप्पा सभ्यता में मुख्यतः भूमध्य सागरीय, प्रेट्रो, आस्ट्रेलायड, मंगोलाभ, और नीग्रोलाभ जातियों की उपस्थिति बतायी गई है।

भारत के प्राचीन इतिहास के सन्दर्भ में प्रारम्भिक रूप से साहित्यिक स्रोतो के आधार पर आर्य और द्रविण जनसमुदायों का वर्गीकरण किया गया है यद्यपि भारत में आर्यो की प्रजातीय उपस्थिति को लेकर अनेक प्रश्न उठाये जाते रहे है और यह भी कि आर्यजन मूलतः भारत में बाहर से आये थें अथवा वह यही के मूल निवासी और यहाँ के विशेष सामाजिक वर्ग के पर्याप्त मात्रा थे। भाषाई दृष्टि से आर्यजानों का देवभाषा कही गई संस्कृत के अस्तित्व की बात कही जाती है यद्यपि भाषाई दृष्टि से यह एक मोटा विभाजन मात्रा है। परन्तु इसे स्वीकार करने में कठिनाई नही होनी चाहिए कि जहाँ आर्य प्रारम्भिक तौर पर भारत के उत्तर-पश्चिम में ब्रहार्वत कहे गये क्षेत्र में सीमित थे और कालान्तर में ही उनका प्रसार आर्यावर्त कहे गये सम्पूर्ण उत्तरीय भारत में हुआ पता चलता है वही द्रविण भाषाई समूह सम्पूर्ण भारतीय भाषाई उपमहाद्वीप में यत्र-तत्र बिखरे रहे थे और उनके बीच अनेक क्षेत्रीय भाषायें प्रचलित रही थी।

नस्लीय दृष्टि से भी अनके क्षेत्रीय प्रकारों के अध्ययन किये जाते रहे है वेदों में आर्य और असुर का भेद कोई नस्लीय भेद है अथवा नही यह विवेचना का विषय हो सकता है परन्तु इस बात पर तभी संन्देह किया जा सकता है कि बीच खास प्रकार के सांस्कृतिक और कद्‌चित भाषाई भेद भी बने रहे थे।

ऋग्वेद में गौर वर्णीय आर्यो के सापेक्ष दास वस्यु, असुर राक्षस और